शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिकपत्र

आत्मधर्म

आश्विन : २४८१ ☆ वर्ष ग्यारहवाँ ☆ अंक छठवाँ

: संपादक :
रामजी माणेकचंद दोशी वकील

कहाँ... अटके... ?

अज्ञानी जीव जगत से भिन्न अपने चैतन्यस्वरूप को चूककर देश का-पर का-घर का और शरीरादि का कार्य करने के अभिमान में अटकता है; बहुत से बहुत धर्म के नाम से आगे बढ़े तो दया-व्रतादि के शुभराग में धर्म मानकर वहाँ अटक जाता है; किन्तु शरीरादि की क्रिया से भिन्न और शुभराग से भी पार ऐसे अपने ज्ञानानन्दस्वयप आत्मा का लक्ष नहीं करता; इसलिये उसके जन्म-मरण के दु:ख का अंत नहीं आता। अनादिकाल में पुण्य किये, तथापि जीव संसार में ही भटका है, तो उस संसार का मूलकारण क्या है—वह जानकर उसे टालने का उपाय करना चाहिये।

वार्षिक मूल्य
तीन रुपया

१२६

एक अंक
चार आना

जैन स्वाध्याय मन्दिर : सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

मोक्ष का कारण

अन्तर्मुख ज्ञान ही मोक्ष का कारण है, पुण्यपरिणाम मोक्ष का कारण नहीं है।

जिसे अन्तर के ज्ञानस्वरूप की खबर नहीं है और जिसका ज्ञान परमार्थ सवभाव की ओर उन्मुख नहीं हुआ है—ऐसे अज्ञानी को व्रत, नियम, शील, तपादि के शुभपरिणाम होने पर भी उसके मोक्षमार्ग का अभाव है,—इसलिये पुण्यपरिणाम, मोक्ष का कारण नहीं है।

और जिसे अंतर के ज्ञानस्वरूप की श्रद्धा है, जिसका ज्ञान परमार्थस्वभाव की ओर उन्मुख हुआ है, ऐसे ज्ञानी को ज्ञानस्वरूप की एकाग्रता में व्रत, नियम, शील, तपादि के शुभपरिणाम न होने पर भी मोक्षमार्ग का सद्भाव है; इसलिये ज्ञानस्वरूप में एकाग्रता ही मोक्ष का कारण है, पुण्यपरिणाम मोक्ष का कारण नहीं है। बीच में शुभाशुभपरिणाम आते हैं, उसे हेय-ज्ञेय और अहितरूप समझता है, तो शुभराग को उपचारमात्र कारण कहते हैं, परन्तु अज्ञानी या ज्ञानी किसी को भी पुण्य मोक्ष का कारण नहीं है।

[—प्रवचन से]

''लघु जैन सिद्धान्त प्रवेशिका''

(दूसरी आवृत्ति)

यह एक विशिष्ट, अत्यावश्यक, स्वाध्याय तथा प्रचार
योग्य तत्त्वज्ञान प्रवेशिका है, शास्त्राधार सहित
उत्तम और सुगम कथन है, मुमुक्षुजन
अवश्य स्वाध्याय करें।

पत्र संख्या १०५ मूल्य ०-३-०

२० प्रतियों से अधिक लेने पर २५ प्रतिशत कमी०

पोस्टेज अलग।

— पता —

जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट

पो० सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

आत्मधर्म

आश्विन : २४८१ ☆ वर्ष ग्यारहवाँ ☆ अंक छठवाँ

★ परमात्म पद प्राप्ति का अन्तिम अवतार ★

महावीर भगवान के जन्मकल्याणक-महोत्सव का प्रवचन

[वांकानेर में पंचकल्याणक-प्रतिष्ठा-महोत्सव के समय पूज्य गुरुदेव का प्रवचन : चैत्र शुक्ला १३, वीर सं. २४८०]

आज महावीर भगवान के जन्मकल्याणक का दिन है। परमात्म-पद प्राप्त करने का यह अन्तिम अवतार था, इस भव में भगवान को पूर्णानन्द परमात्मदशा की प्राप्ति हुई, इसलिये उसे याद करके भगवान के जन्म का महोत्सव मनाया जा रहा है। भगवान को आत्मा का ज्ञान तो पूर्व भवों में ही था, फिर इस भव में पूर्ण चारित्रदशा प्रगट करके उन्होंने केवलज्ञान प्रगट किया। वह केवलज्ञानकल्याणक आज दोपहर को मनाया जायेगा। केवलज्ञान होने के पश्चात् इन्द्रों ने समवशरण की रचना की, और दिव्यध्वनि में भगवान का उपदेश निकला; उस उपदेश में भगवान ने क्या कहा ? भगवान ने कहा कि हे आत्मा ! तुझे सुखी होना है, तो वह सुख कहाँ है ? बाह्य में कहीं भी सुख नहीं है, सुख तेरे अंतर् स्वभाव में ही है। अंतर के ज्ञानान्दस्वभाव की प्रतीति करके उसमें एकाग्रता द्वारा सुख प्रगट होता है। प्रभो ! पर में तेरा सुख नहीं है, शरीर में सुख नहीं है, लक्ष्मी में सुख नहीं है, स्त्री में या इज्जत में सुख नहीं है; संयोगों में न तो तेरा सुख है और न उनमें दुःख ही है। अब, ''संयोग में सुख है''—ऐसी जो तूने कल्पना की है, उस कल्पना में भी तेरा सुख नहीं है। भगवान ! तेरे सुख का अस्तित्व कहाँ है ? सुख की सत्ता कहाँ है ? ज्ञानानन्दस्वभाव के अस्तित्व में ही तेरा सुख है। तेरे सुख का अस्तित्व तुझसे पृथक् नहीं हो सकता। स्वभाव में ही सुख है, उसे बाह्य साधनों की आवश्यकता नहीं है। जिस प्रकार समुद्र के पानी में मध्य बिन्दु के उछलने से ही

ज्वार आता है; बाहर से ज्वार नहीं आता। सैकड़ों नदियों का पानी आ जाये या सैकड़ों इंच वर्षा हो, किन्तु उससे समुद्र में ज्वार नहीं आता। ज्वार तो भीतरी जलराशि के मध्य बिन्दु की शक्ति से ही आता है। भले ही चाहे जितनी गर्मी हो, किन्तु समुद्र के मध्यबिन्दु की शक्ति उछल कर जो ज्वार उठता है, वह रुक नहीं सकता। उसी प्रकार ज्ञानसमुद्र भगवान आत्मा में ज्ञानानन्द का ज्वार कैसे आता है? धर्म की तरंगें कैसे उछलती हैं?—बाह्य संयोगों से तो आत्मा में धर्म का ज्वार नहीं आता; और भीतर तो शुभ-अशुभ परिणाम होते हैं, उनसे भी आत्मा में धर्म का ज्वार नहीं आता; किन्तु अखंड चैतन्यराशि के अवलम्बन से ज्ञानानन्द का ज्वार आता है। बाह्य में चाहे जितने प्रतिकूल संयोग हों, किन्तु अंतर्दृष्टि के अवलम्बन से आत्मा का मध्यबिन्दु उछलकर जो ज्ञानानन्द की तरंगें उछलती हैं, उन्हें कोई रोक नहीं सकता। अन्तरस्वभाव के अवलम्बन बिना किसी भी बाह्य के कारण से आत्मा में ज्ञानानन्द का ज्वार नहीं आ सकता। लौकिक कलाओं या शास्त्रों की जानकारी से भी आत्मा के ज्ञानानन्द का ज्वार नहीं आता। अतीन्द्रिय आनन्द कहो या धर्म कहो, वह अन्तरस्वभाव के अवलम्बन से ही प्रगट होता है। जीव सुख की इच्छा करते हैं, किन्तु उसके कारणों का सेवन नहीं करते। जीव दुःख की इच्छा नहीं करते किन्तु उसके कारणों में सतत वर्तते हैं। यहाँ भगवान कहते हैं कि हे भाई! तेरा सुख तेरे ज्ञानानन्दस्वभाव में ही है, इसके सिवा संयोगों में या उनकी ओर के भाव में तेरा सुख नहीं है। ऐसा लक्ष तो कर, अंतर में सुख है—ऐसी वृत्ति तो कर। आत्मा अपनी प्रभुता की शक्ति से शोभायमान हो—ऐसी यह बात है। यही सच्चा स्वराज्य है। आत्मा स्वयं अपने चैतन्य की प्रभुता से शोभित हो, उसका नाम सच्चा स्वराज्य है। इसके सिवा बाह्य में संयोगों के ढेर हों, उनके द्वारा आत्मा की कोई शोभा नहीं है; सर्वज्ञभगवान के ज्ञान में तीनकाल-तीनलोक ज्ञात होते हैं और पूर्ण आनन्द का अनुभव है। भगवान को ऐसे अतीन्द्रिय ज्ञान-आनन्द प्रगट हुए, वे कहाँ से प्रगटे? भीतर आत्मा के स्वभाव में शक्ति भरी है, उसी में से व्यक्त हुए हैं। प्रत्येक आत्मा में ज्ञानानन्द की शक्ति भरी है। प्रत्येक आत्मा स्वभाव शक्ति से भगवान जैसा ही परिपूर्ण है। अहो! ऐसे अतीन्द्रियज्ञान-सामर्थ्य की प्रतीति करो... उसकी रुचि करो... उसकी पहिचान करो। ऐसे आत्मस्वभाव की प्रतीति किये बिना चार गति का परिभ्रमण दूर नहीं होता। कोई कहे कि—"नरक में जाने की बन्दी दो।" किन्तु भाई! जिसे स्वर्ग के अवतार को या पुण्य की प्रीति है, उसे चारों गतियों के अवतार का भाव बना ही है। आत्मा के ज्ञानानन्दस्वभाव को पहिचानकर उसे अग्रसर बना; अर्थात् संयोग की या संयोग की ओर के भाव की मुख्यता न कर;

किन्तु अन्तर की स्वभावशक्ति को अग्र करके उसको मुख्यता दे—उसका अवलम्बन कर तो उसके अवलम्बन से सम्यग्दर्शनादि प्रगट हों और चारों गति का परिभ्रमण दूर हो।

धर्म यानी अतीन्द्रिय आनन्द; धर्म यानी सुख; उस धर्म में मुख्यता किसकी? पर्याय में क्षणिक राग है, बाह्य में संयोग वर्तते हैं और अन्तर में त्रिकाली ज्ञानानन्दस्वभाव पड़ा है;—इस प्रकार त्रिकाली स्वभाव, क्षणिक विभाव, और बाह्य संयोग-यह तीनों प्रकार एक साथ वर्तते हैं; उनमें किसकी प्रधानता करने से धर्म होता है?—किसको मूल्य करने से अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव होता है? संयोग और निमित्त तो परवस्तु हैं; आत्मा में उनका अभाव है; इसलिये उनके अवलम्बन से धर्म नहीं होता; और भीतर जो क्षणिक पुण्य-पाप के भाव होते हैं, उनसे भी आत्मा की शांति या धर्म नहीं है। अंतर में चिदानन्दस्वभाव ध्रुव है-उसकी मुख्यता करके उसका अवलम्बन करने से अतीन्द्रिय आनन्द प्रगट होता है; यही धर्म की रीति है। इस विधि के सिवा जो अन्य रीति से धर्म मनाये, संयोग की या राग की मुख्यता से धर्म मनाये तो उस जीव को धर्म की विधि की खबर नहीं है, और वैसा माननेवाले देव-गुरु या शास्त्र भी सच्चे नहीं हैं। अहो! आत्मा का अतीन्द्रिय आनन्द तो आत्मा के स्वभाव में ही है।—ऐसे आत्मभान के पश्चात् जो मुनिदशा प्रगट हो, उसका तो स्वरूप ही अलौकिक है। स्वरूप में लीन होकर आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्द के अमृत में ऐसी लीनता हो कि आहारादि की वृत्ति न उठे, तृण जितना भी वस्त्र लेने की वृत्ति न हो,—ऐसी आनन्द की लीनता का नाम चारित्र और तप है। अभी तो आत्मा के ज्ञानानन्दस्वरूप का सम्यक्भान भी न हो, उसे तो धर्म की पहली सीढ़ी की भी खबर नहीं है। यहाँ आचार्यदेव कहते हैं कि भाई! अंतर के भूतार्थस्वभाव के अवलम्बन से अपने ज्ञानानन्दस्वभाव का अनुभव कर, शुद्धनय से अपने आत्मा को जान; अन्तर्दृष्टि खुले बिना सच्चे व्रत-तप नहीं आयेंगे। पर्वत पर चढ़नेवाले की दृष्टि शिखर की ओर होती है; उसी प्रकार जिसे ऊपर चढ़ना हो-उच्चदशा प्रगट करना हो, उसकी दृष्टि आत्मा के ऊर्ध्वस्वभाव की ओर होती है। पुण्य-पाप से पार और संयोग से पार ऐसा ज्ञानानन्द ऊर्ध्वस्वभाव है; उस स्वभाव के अवलम्बन से धर्मी मोक्षमार्ग-ऊपर चढ़ता है। चिदानन्दस्वभाव की मुख्यता की दृष्टि के बिना अनन्तबार जीव ने व्रत-तप के शुभपरिणाम किये और उनमें धर्म माना, किन्तु उनका भवभ्रमण नहीं मिटा। जिस प्रकार चने के सेकने से मीठे दालिये बन जाते हैं, उसमें मिठास आ जाती है और बोने से उगता भी नहीं है; उसी प्रकार आत्मा में दालिये कैसे बनें अर्थात् आनन्द का अनुभव कैसे प्रगट हो और कैसे जन्म-मरण का अन्त आये, उसकी

यह बात है। ज्ञानानन्दस्वरूप को पहिचानकर उसमें एकाग्रतारूपी अग्नि द्वारा एकाग्र होने से जन्म-मरण का बीज जल जाता है और आत्मा का अतीन्द्रिय आनंद प्रगट होता है। ऐसी सच्ची समझ करना, वह अपूर्व है। भगवान महावीर प्रभु को जन्म से ही ऐसा आत्मज्ञान तो था ही, और फिर चारित्रदशा प्रगट करके आत्मा के पूर्णानन्द को भगवान ने इसी भव में प्राप्त किया, तथा भव का नाश करके अपूर्व मुक्तदशा प्रगट करके वे सादि-अनंत पूर्णाननद सिद्धदशा में विराजमान हुए।—ऐसे भगवान के जन्म-कल्याणक का आज मंगल दिन है। भगवान तो हजारों वर्ष पहले हो गये हैं, किन्तु उनकी स्मृति करके वर्तमान में अपने आत्मा में निर्मल भाव प्रगट करना, वह मंगल है। चिदानन्दस्वभाव का भान करनेवाले को सच्चे देव-गुरु-शास्त्र की यथार्थ पहिचान और बहुमान होता है। केशर लेने जाये, तो उसका बारदान भी उच्च प्रकार का होता है, बोरे में केशर नहीं ली जाती; उसी प्रकार जिसे आत्मा के चिदानन्दस्वभाव का भान करना है, उसे निमित्तरूप से सच्चे देव-गुरु-शास्त्र कैसे होते हैं, उसकी यथार्थ पहिचान होती है। जो सच्चे निमित्त को भी न पहिचाने और कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र का निमित्तरूप से आदर करे, उसे तो धर्म की पात्रता भी नहीं है। सच्चे देव-गुरु-शास्त्र तो ऐसा बतलाते हैं कि भाई! तेरा धर्म तेरे आत्मा के अवलम्बन से ही है, राग के या निमित्त के अवलम्बन से तेरा धर्म नहीं है।—ऐसा अपूर्व भान करना ही धर्म के प्रारम्भ की विधि है। प्रभु! तूने अन्य उपाय तो किये किन्तु सच्ची समझ का मार्ग पूर्वकाल में कभी नहीं किया; और उसके बिना कभी धर्म नहीं होता। तूने आत्मा के भान बिना चारों गतियों के अवतार अनन्तबार किये हैं; किन्तु भव और भव के कारण रहित तेरा ज्ञानानन्दस्वभाव है; उस स्वभाव की दृष्टि कर तो भव का अन्त आ जाये। इसके सिवा बाह्य कारणों से भव का अन्त नहीं आ सकता। इसलिये जिसे भव का अन्त लाना हो और आत्मा का अतीन्द्रिय आनन्द प्रगट करना हो, उसे अंतर के ध्रुव ज्ञानानन्दस्वभाव को लक्ष में लेकर उसकी रुचि और बहुमान करने योग्य है; उसकी मुख्यता करके उसका अवलम्बन करने से धर्म होता है और भवभ्रमण का अन्त आकर पूर्ण आनन्दरूप मोक्षदशा प्रगट होती है।●●

सुख और दुःख क्या है ?

भाई रे ! तेरा सुख तेरे आत्मा से बाहर नहीं हो सकता। आत्मा का आनन्द बाह्य में नहीं है और आत्मा का दुःख भी बाह्य में नहीं है। पर में सुख है–ऐसा जो मानता है, उसे आत्मा के सुख की श्रद्धा नहीं है। भाई ! पहले तू प्रतीति कर तेरा सुख मुझमें है–संयोग में मेरा सुख नहीं है।

इस देह से भिन्न ज्ञान–आनन्दस्वरूप आत्मा क्या वस्तु है, वह बात जीवों ने अनन्त काल में एक क्षण भी नहीं जानी है। जीव सुख को ढूँढ़ता है, किन्तु वास्तविक सुख कहाँ है, उसकी उसे खबर नहीं है। आत्मा के स्वभाव में सुख है, उसे भूलकर बाह्य संयोगों में से सुख लेना चाहता है, किन्तु संयोगों में कहीं भी आत्मा का सुख नहीं है। आत्मा का स्वभाव स्वयं ही सुख से परिपूर्ण है, किन्तु उसे भूलकर पुण्य–पाप की आकुलता का वेदन करता है, वह दुःख है। पुण्य–पाप से पार मेरा ज्ञानानन्दस्वरूप है—ऐसी प्रतीति यदि अन्तर्मुख होकर करे तो उसी क्षण आत्मा के अतीन्द्रियसुख का अनुभव होता है। सुख कहो या धर्म कहो, वह कोई पृथक् वस्तुएँ नहीं हैं। धर्म इस समय करे और सुख फिर मिले—ऐसा नहीं है। जिस क्षण आत्मा के स्वभाव की सम्यक् श्रद्धा–ज्ञानरूप धर्म करे, उसी क्षण अपूर्व अतीन्द्रियसुख का अंश प्रगट होता है। पुण्य–पाप के विकारीभाव करे, उसकी आकुलता का वेदन भी वर्तमान में है और ज्ञानानन्दस्वरूप का भान करके उसमें जितनी एकाग्रता करे, उतनी अनाकुल शांति का वेदन भी वर्तमान में ही है; बाह्य संयोग तो पृथक् हैं, उनका वेदन आत्मा को नहीं है। लक्ष्मी शरीरादि संयोगों में सुख है–ऐसा अज्ञानी ने भ्रान्ति से माना है, किन्तु संयोगों में सुख कभी देखा नहीं है। पुण्य–पाप की आकुलता की वृत्ति उठे, वह दुःख है, किन्तु अज्ञानी को वह दुःख दिखाई नहीं देता। आत्मा का शांत अनाकुल चैतन्यस्वभाव है; उस स्वभाव के अवलम्बन से ही अनाकुल सुख प्रगट होता है।

जिस प्रकार अग्नि की ज्योति का स्वभाव पाचक, प्रकाशक और दाहक है; उसी प्रकार भगवान आत्मा चैतन्यज्योति है; उसके सम्यक्दर्शन का स्वभाव ऐसा पाचक है कि सारे चैतन्य स्वभाव को प्रतीति में पचा देता है। सम्यग्ज्ञान का स्वभाव स्व–पर प्रकाशक है और सम्यक्चारित्र का स्वभाव विकार को जलाकर भस्म करने का है; ऐसे दर्शन–ज्ञान–चारित्रस्वभाववाला भगवान आत्मा स्वयं आनन्द से भरपूर है। आत्मा का आनन्द बाह्य में नहीं है, और उसका दुःख भी बाह्य में नहीं है। पर में सुख है–ऐसा जो मानता है, उसे आत्मा के सुख की श्रद्धा नहीं है; पर में सुख

माननेवाला आत्मा के सुख को नहीं मानता है। भाई रे! तेरा सुख तेरे आत्मा से बाहर नहीं हो सकता। शरीर से-पैसे से मुझे सुख मिलेगा—ऐसा मानकर जो जीव, परपदार्थों को आत्मबुद्धि से ग्रहण करता है, वह बहिरात्मा है। जीव को मिथ्याश्रद्धा, मिथ्याज्ञान, और मिथ्याचारित्ररूपी त्रिदोष का रोग अनादि से लगा है; इसलिये उसे आकुलता का दुःख दिखाई नहीं देता, किन्तु संयोगों में सुख के लिये झूरता है, वही दुःख है। वह दुःख आत्मा का नित्य स्थायी स्वभाव नहीं है किन्तु विकृति है। सुख, आत्मा का नित्य स्थायी स्वभाव है और दुःख उसकी क्षणिक विकृत दशा है। यदि आत्मा के स्वभाव में ही सुख न हो तो बाहर से नहीं आ सकता; और यदि दुःख, आत्मा का स्वभाव हो तो वह कभी दूर नहीं हो सकता। उसी प्रकार यदि आत्मा की क्षणिक अवस्था में दुःख न हो तो उसे वर्तमान में अतीन्द्रिय पूर्ण आनन्द का अनुभव होना चाहिये। इसलिये निर्णय करना चाहिये कि संयोग की अनुकूलता या प्रतिकूलता में जीव का सुख-दुःख नहीं है। जीव की अपनी क्षणिक अवस्था में अज्ञान और विकारी वृत्तियाँ होती हैं, वे दुःखरूप हैं; वह दुःख, जीव का स्थायी स्वभाव नहीं है; जीव का स्थायी स्वभाव तो अतीन्द्रियज्ञान-आनन्द से परिपूर्ण है। ऐसे ज्ञानानन्दस्वभाव की रुचि करके, उसकी अन्तरप्रतीति करने से चैतन्य के अतीन्द्रिय सुख का वेदन होता है, उसका नाम धर्म है।

भाई! पहले तू प्रतीति कर कि मेरा सुख मुझमें है, संयोग में मेरा सुख नहीं है। चैतन्यस्वभाव को चूककर बाह्य विषयों पर लक्ष जाने से शुभ-अशुभ वृत्तियाँ होती हैं, वह दुःख है। संसार क्या है? वह जीव की अरूपी विकारी अवस्था है। बाह्य संयोगों में संसार नहीं है। गरीब की झोपड़ी भी यही पड़ी रहती है और महान चक्रवर्ती के महल भी यहीं पड़े रहते हैं। यदि उन संयोगों में जीव का संसार हो तो वे संयोग छूटने से जीव का संसार भी छूट जाये और उसकी मुक्ति हो जाये। किन्तु ऐसा नहीं है। ज्ञानानन्दस्वरूप को चूककर "पर मेरे, शरीरादिक की क्रिया मेरी"—ऐसा जो परपदार्थों में अहंपने का मिथ्याभाव है, वही संसार का मूल है और मरते समय उस मिथ्याभाव को साथ ले जाता है—इसका नाम संसार है। बाह्य संयोगों में जीव का धर्म या अधर्म नहीं है; धर्म या अधर्म जीव की अपनी अवस्था का अरूपी भाव है और उसका कर्ता जीव स्वयं है।

अज्ञानी जीव, अपने स्वभाव में सुख है-उसे नहीं जानते, उस सुख का उपाय भी नहीं जानते, और बाह्य प्रतिकूल संयोगों को दूर करके दुःख दूर करना चाहते हैं, तथा सुख भी बाह्य संयोगों में से लेना चाहते हैं, वह भ्रम है। देखो, कभी घोर अपमान हो जाये तो उस समय अपमान

की असह्य वेदना से शरीर का अन्त करने के लिये तैयार हो जाता है; यानी शरीर को छोड़कर भी दु:खमुक्त होकर सुखी होना चाहता है। शरीर छोड़कर भी सुखी होना चाहता है तो उसका क्या अर्थ हुआ ? शरीर छूट जाने से क्या रहेगा ?—अकेला आत्मा रहेगा। इसलिये शरीर के बिना भी सुखी हुआ जा सकता है—शरीर के बिना अकेले आत्मा में सुख है—इतना तो सिद्ध हो गया। संयोग में सुख नहीं है किन्तु आत्मा में ही सुख है—ऐसी प्रतीति करे तो संयोगों की रुचि छूटकर आत्मा के स्वभाव की रुचि हो जाये। आत्मा के ज्ञानानन्दस्वभाव की सम्यक् प्रतीति और एकाग्रता करने से अतीन्द्रियसुख प्रगट होता है। इसके सिवा बाह्य में सुख नहीं है और न बाह्य के किसी उपाय से सुख प्रगट होता है। आत्मा का ज्ञानानन्दस्वभाव क्या है, उसके अन्तरभान बिना बाह्य में धर्म का साधन मानकर चाहे जितने उपाय करे, किन्तु वे सब मिथ्या हैं। भाई ! सुख का उपाय ही अलग प्रकार का है। अनन्तकाल तूने कभी एक क्षण भी वास्तविक उपाय का सेवन नहीं किया है। जो कुछ किया, वह सब इकाईरहित शून्य के समान है। आत्मा का यथार्थस्वरूप क्या है, उसे दु:ख क्यों है और सुख कैसे प्रगट हो सकता है, वह सत्समागम से श्रवण-मनन करके समझना चाहिये। आत्मा की सच्ची समझ होने से धर्मी की दृष्टि पलट जाती है। अहो ! मैं तो चैतन्यनिधि आत्मा हूँ; यह देहादिक संयोग पर हैं; उनमें कहीं भी मेरा सुख नहीं है और न मैं उनका स्वामी हूँ। मेरे आत्मा में ही सुखस्वभाव भरा है;—इस प्रकार स्वभाव सामर्थ्य का अपूर्व भान होता है और ऐसा भान होते ही धर्म का प्रारम्भ होता है। इसके सिवा अन्य किसी उपाय से धर्म या सुख नहीं होता।

[लींबडी शहर में पूज्य गुरुदेव का प्रवचन : वीर सं. २४८०, वैशाख शुक्ला ७]

आत्मा का स्वभावसामर्थ्य

भगवान ! तेरे आत्मा में चैतन्य की प्रभुता भरी है; यदि अन्तर में चैतन्य की प्रभुता न हो तो कहाँ से आयेगी ? आत्मा के स्वभाव में प्रभुता का सामर्थ्य है, उसे पहिचानकर उसकी प्रतीति करना, वह अपूर्व प्रयत्न है; इसके सिवा लौकिक विद्या का ज्ञातृत्व हो तो वह कोई अपूर्व वस्तु नहीं है।

यह समयसार की तेरहवीं गाथा पढ़ी जा रही है, उसमें सम्यग्दर्शन कैसे होता है, वह बात कहते हैं। सम्यग्दर्शन होने की रीति क्या है, वह बात जीव पूर्व अनंतकाल में नहीं समझा, और उसके बिना किंचित् कल्याण नहीं होता, इसलिये यहाँ आचार्यदेव सम्यग्दर्शन की रीति समझाते हैं।

यह आत्मा, देह से भिन्न, ज्ञानस्वरूप है। शरीर बड़ा हो, तथापि ज्ञान कम होता है, और किसी का शरीर छोटा हो, तथापि बुद्धि अधिक होती है;—ऐसा देखा जाता है; इसलिये ज्ञानस्वरूप आत्मा, शरीर से पृथक् है। नवतत्त्व है; उनमें ज्ञानस्वरूप आत्मा जीवतत्त्व है और शरीर अजीवतत्त्व है। शरीर और जीव एक हों तो शरीर के अनुसार ही ज्ञान होना चाहिए, किन्तु ऐसा नहीं होता। शरीर छोटा होता है, तथापि ज्ञान की उग्रता अधिक होती है, और शरीर बड़ा-भारी हो, तथापि ज्ञान कम होता है-ऐसा देखा जाता है, क्योंकि ज्ञानवस्तु, शरीर से भिन्न है।

प्रत्येक आत्मा ज्ञानस्वरूप है; प्रत्येक आत्मा में परिपूर्ण ज्ञान-सामर्थ्य भरा है। जिस प्रकार लैंडी पीपर के प्रत्येक दाने में चौंसठपुटी चरपराहट होने की शक्ति है; घिसने से जो चरपराहट प्रगट होती है, वह कहाँ से आई ? बाहर से नहीं आई है, किन्तु उसके स्वभाव में जो चरपराहट भरी है, वही प्रगट होती है। चूहे की लैंडी को घिसो तो उसमें से चरपराहट प्रगट नहीं होती, क्योंकि उसमें वैसा स्वभाव नहीं है। उसी प्रकार शरीर जड़ है, उस शरीर की क्रिया में ज्ञान नहीं है। आत्मा ज्ञानानन्दस्वरूप है। उसके स्वभाव में ही केवलज्ञान होने की शक्ति है। अंतर के ज्ञानस्वरूप की प्रतीति करके उसमें एकाग्र होने से केवलज्ञान प्रगट हो जाता है। वह केवलज्ञान बाहर से या पुण्य-पाप में से नहीं आया किन्तु आत्मा में स्वभाव-सामर्थ्य था, उसी में से वह प्रगट हुआ। ऐसे स्वभावसामर्थ्य को पहिचानकर उसकी प्रतीति करना, वह प्रथम धर्म है और वही सम्यग्दर्शन की रीति है।

आत्मा के ज्ञानानन्दस्वरूप को जानकर उसकी प्रतीति करना, वह अपूर्व प्रयत्न है। इसके

सिवा लौकिक विद्या का ज्ञातृत्व हो, वह अपूर्व नहीं है। वकालत या डाक्टरी आदि में जो विकास है, वह तो पूर्व का क्षयोपशम लेकर आया है, और पैसादि का मिलन भी पूर्व पुण्य का फल है; वर्तमान चतुराई के कारण पैसा मिलता हो—ऐसा नहीं है। बाह्य जड़ के कार्य मेरी बुद्धि के कारण होते हैं—ऐसा अज्ञानी मानता है, वह उसका भ्रम है। आत्मा ज्ञानानन्दस्वरूप है, वह जड़ से भिन्न है, आत्मा, जड़ के कार्य करे—ऐसा कभी नहीं हो सकता। जड़ की अवस्था जड़ के कारण होती है। मेरे कारण जड़ की अवस्था होती है-ऐसा मानना, वह जड़-चेतन की एकत्वबुद्धि है। मैं तो ज्ञान हूँ, मेरा स्वभाव ही जानने का है; स्व-पर को जानने की मेरे स्वभाव की शक्ति है—ऐसे अपने स्वभाव की प्रतीति करके उसमें एकाग्र होने से परिपूर्ण ज्ञान प्रगट हो जाता है और रागादि का अभाव हो जाता है; फिर उसे संसार परिभ्रमण नहीं रहता।

पहले यह बात समझना चाहिए कि जगत में जीव-अजीवतत्त्व स्वतंत्र हैं। शरीरादिक भी जगत के स्वतंत्र अजीवतत्त्व हैं; उस अजीव के कार्य उसके अपने से स्वतंत्रतया ही होते हैं; आत्मा उनकी अवस्था नहीं करता। जगत का प्रत्येक आत्मा और प्रत्येक परमाणु स्वतंत्र तत्त्व है, वह प्रत्येक तत्त्व स्वयं ही प्रतिक्षण रूपान्तर होकर अपना कार्य करता है। जगत में जो तत्त्व हैं, वे स्वयं नित्यस्थायी रहकर प्रतिसमय अपनी अवस्था का रूपान्तर करते हैं; कोई दूसरा उन्हें स्थित रखनेवाला या परिवर्तित करनेवाला नहीं है। धर्मी जानता है कि मैं तो ज्ञानस्वरूप जीव हूँ, मेरा कार्य स्व-पर को जानने का है; उसके सिवा परजीवों का और शरीरादि जड़ तत्त्वों का कार्य भी मेरा नहीं है। शरीर की अवस्था का मैं ज्ञाता हूँ, किन्तु उस अवस्था को रोकने की या बदलने की शक्ति मुझमें नहीं है। अभी यह तो जीव-अजीवादि तत्त्वों का भिन्न-भिन्न स्वरूप क्या है, उसे पहिचानने की यह बात है। जीव-अजीवादि तत्त्वों के भेद का विकल्प भी छोड़कर, ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा के सन्मुख होकर उसकी प्रतीति करना, वह सम्यग्दर्शन है।

भगवान! तेरे आत्मा में चैतन्य की प्रभुता भरी है, तेरे चैतन्य की प्रभुता तुझमें ही भरी है, वही बाहर आती है। यदि अंतर में प्रभुता न हो तो कहाँ से आयेगी? बाह्य से तेरी प्रभुता नहीं आ सकती। प्रभो! तेरे स्वभाव में प्रभुता की शक्ति विद्यमान है, उसकी प्रतीति कर। अन्तर में पूर्ण ज्ञानस्वभाव विद्यमान है, उसकी जिसे प्रतीति और पहिचान नहीं है, वह जीव ऐसा मानता है कि पर ज्ञेयों के कारण मुझे ज्ञान होता है; किन्तु ऐसा नहीं मानता कि ज्ञान का विकास तो अंतरशक्ति में से होता है। बाह्य वस्तुओं से मेरा कुछ हित होगा, बाह्य पदार्थों में से मेरा ज्ञान आयेगा—ऐसे भ्रम के

कारण जीव अनादि से संसार में भटक रहा है। अन्तर में अपना ज्ञानानन्दस्वभाव है, उसके सन्मुख होकर उसे जानने से अशंत: निर्विकारी शांति का अनुभव होता है और तभी धर्म का प्रारम्भ होता है; और फिर उस ज्ञानानन्दस्वरूप में एकाग्र होने से पूर्ण ज्ञान और आनन्द विकसित हो जाता है, उसका नाम परमात्मदशा है। वह परमात्मदशा हो जाने के पश्चात् आहारादि नहीं होते; शरीर भी अशुचि रहित महा सुन्दर परम औदारिक हो जाता है—ऐसी परमात्मदशा प्रगट होने से पूर्व, धर्म के प्रारम्भ में ही जीवादितत्त्वों की कैसी पहिचान होती है, उसकी यह बात है।

नव तत्त्वों में जीवतत्त्व तो ज्ञानस्वरूप है और जो शरीरादि जड़ हैं, वे अजीवतत्त्व हैं। तीसरा पुण्यतत्त्व है। भगवान की पूजा, भक्ति, दान, दयादि के शुभपरिणाम हों, वह पुण्य है। धर्म वस्तु अलग है, किन्तु अज्ञानी को जो दयादि के शुभभाव होते हैं, उन्हें कोई पाप कहता हो तो वह बात मिथ्या है। दया-दानादि के भाव पाप नहीं हैं किन्तु पुण्य हैं। शास्त्रों में जीवों को तीव्र पापभावों से छुड़ाने के लिये दया-दानादि का उपदेश देते हैं। पद्मनन्दि पंचविंशतिका के दान अधिकार में मुनिराज दान का उपदेश देते हुए कहते हैं कि—अरे भाई! पूर्व पुण्य के कारण तुझे इन लक्ष्मी आदि का संयोग प्राप्त हुआ है, इसलिये अब देव-गुरु-धर्म की भक्ति-प्रभावनादि शुभकार्यों में उसका उपयोग कर। सांसारिक कार्यों में लक्ष्मी का उपयोग करना तो पाप का कारण है। भाई! अगर कौए को जली हुई खिचड़ी की पपटियाँ मिल जायें तो वह काँव... काँव करके दूसरे कौओं को बुलाकर खाता है; तो फिर पूर्वकाल में तेरे गुणों के जलने से विकार हुआ, तब पुण्य का राग हुआ और पुण्य बंध हुआ; उस पुण्य के फल में तुझे यह लक्ष्मी प्राप्त हुई; इसका दानादि में उपयोग न करके तू अकेला खायेगा तो तू उस कौए से भी गया बीता!! इसलिये भाई! दया-दान, देव-गुरु-धर्म की प्रभावनादि में अपनी लक्ष्मी का उपयोग कर।—ऐसा शुभराग का उपदेश शास्त्र में आता है। वहाँ कोई ऐसा कहे कि भूखे प्राणी जो असंयमी हैं, उनको भोजन देने का भाव पाप है; तो उसे पुण्यतत्त्व की खबर नहीं है। यहाँ पुण्यतत्त्व की पहिचान कराना है; यह नहीं कहना है कि पुण्य से धर्म होता है। पुण्य है, वह धर्म नहीं है और पुण्य है, वह पाप भी नहीं है। दयादि के शुभभाव, वह पुण्यतत्त्व है और हिंसादि के अशुभभाव, वह पापतत्त्व है।

सांसारिक भोगों में लक्ष्मी का व्यय करे, उसमें तो तीव्र राग का भाव है, और धर्म प्रभावनादि में लक्ष्मी खर्च करने के भाव में मंदराग है, वह पुण्य है। अज्ञानी को पुण्यभाव होता है, और धर्मी को भी पुण्यभाव होता है। यदि पुण्य-पाप के भाव छूटकर स्वरूप में निर्विकल्परूप से

एकाग्र रहे तो अल्पकाल में केवलज्ञान हो जाये। किन्तु निचलीदशा में उतनी विशेष एकाग्रता नहीं रह सकती, इसलिये वहाँ भक्ति, दानादि के शुभपरिणाम भी होते हैं, वह पुण्य है।

भगवान! जो अनादिकाल में कभी प्रगट नहीं हुआ,—ऐसी अपूर्व शांति का वेदन कैसे प्रगट हो... सम्यग्दर्शन कैसे हो—उसकी यह बात है। भाई! अनंतकाल का अनजान पंथ... वह सत्समागम के बिना समझ में नहीं आ सकता। तेरे चैतन्य में जीवनशक्ति भरी है... सर्वज्ञता की शक्ति तुझमें विद्यमान है... आनन्द के निधान तेरी शक्ति में भरे हैं; उसके सन्मुख होकर एक बार उसकी प्रतीति कर, तो अपूर्व अतीन्द्रिय शांति का अंश प्रगट हो। किसी बाह्य क्रिया के कारण या अंतरंग शुभपरिणामों के अवलम्बन से अपूर्व शांति प्रगट नहीं हो सकती। अपने ज्ञान को अन्तरोन्मुख करके स्वभाव का ज्ञान करने से अपूर्व शांति प्रगट होती है। पुण्यभाव हो, उसे ज्ञान जानता है, किन्तु वहाँ उस पुण्य के कारण ज्ञान हुआ—ऐसा नहीं है और ज्ञान के कारण पुण्य परिणाम हुए—ऐसा भी नहीं है। ज्ञान का स्वभाव स्व-पर को जानने का है, वह ज्ञान, पुण्य से पृथक् है भगवान सर्वज्ञदेव की वाणी में ऐसा आया है कि अरे आत्मा! पूर्व अनंतकाल में तुझे अपने आत्मा का सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान एक क्षण भी नहीं हुआ; यदि एक क्षण भी सम्यग्दर्शन करे तो इस संसार परिभ्रमण का नाश हुए बिना न रहे। भगवान! तूने अपने चैतन्य की जाति को पहिचाने बिना, धर्मीपने का अभिमान किया है, पुण्यपरिणाम करके तूने ऐसा माना कि मैंने धर्म किया है और जड़ की क्रिया मुझसे होती है—ऐसा पर का अभिमान किया है; किन्तु जड़ से और पुण्य-पाप से भिन्न ज्ञानानन्दस्वरूप क्या है, उसे तूने कभी नहीं जाना; उस चैतन्यतत्त्व की पहिचान बिना सम्यग्दर्शन नहीं होता और न भवभ्रमण का अन्त आता है। इसलिये ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा को जानने पर सम्यग्दर्शन कैसे प्रगट होता है, उसकी रीति आचार्यदेव समझाते हैं।

[वढवाण शहर में पूज्य गुरुदेव का प्रवचन : वीर सं. २४८०, वैसाख कृष्णा ५]

उमराला नगरी में उद्घाटन महोत्सव के समय उत्तम चैतन्यतत्त्व की पहिचान का उपदेश

हे भाई! तेरा आत्मा स्वयं आनन्दस्वरूप है; उसका तू विकास कर, और संयोग में या राग में आनन्द की कल्पना छोड़। ऐसा दुर्लभ मनुष्य अवतार मिला और सत्समाग की प्राप्ति हुई तो अब अपने आत्मा की पहिचान करके ऐसा अपूर्व भाव प्रगट कर कि जिससे अनन्तकाल के भवभ्रमण का नाश हो जाये। भाई! इस शरीर का संयोग तो एक क्षण में छूटकर यह भस्म हो जायेगा, यह तेरी वस्तु नहीं है, और न तेरे रखने से यह रहेगा; इसलिये देह से भिन्न अपना चैतन्यतत्त्व क्या वस्तु है, उसे पहिचान।

जिज्ञासु जीव अपने आत्मा का चिंतन करते हुए विचार करता है कि अहो! इस जगत में आनंद-सहित और उत्तम तो मेरा चैतन्यतत्त्व ही है। मेरे चैतन्यतत्त्व के सिवा बाह्य में कहीं भी मेरा आनंद नहीं है! मेरे शुद्ध चिद्रूप परमात्मतत्त्व से उच्च जगत में कोई नहीं है। जगत में सर्वोत्कृष्ट उत्तम चैतन्यतत्त्व है; उसकी प्राप्ति के हेतु से उसे यहाँ नमस्कार किया है। चैतन्यतत्त्व की प्राप्ति के सिवा पुण्य-पाप के भाव जीव ने अनन्तबार किये हैं और बाह्य संयोग भी अनन्तबार मिले, किन्तु उसमें कहीं आत्मा का आनन्द नहीं है। इस शरीर से पार जो चैतन्यतत्त्व है, वह अतीन्द्रिय आनन्द का सागर है, वह स्वयं आनन्दस्वरूप है; इसके सिवा क्षणिक स्थिति में जो पुण्य-पाप का विकार दिखाई देता है, वह उसका वास्तविक स्वरूप नहीं है। ''मैं तो शुद्ध चिद्रूप हूँ; आनन्द ही मेरा स्वरूप है''—इस प्रकार जीव जब तक न समझे, तभी तक उसे धर्म का प्रारम्भ नहीं होता और न बंधन दूर होता है।

आत्मा का चिदानन्दस्वभाव अबन्ध है; उसकी अवस्था में पुण्य या पाप हों, वे दोनों बंधन हैं; पाप का भाव तो बन्धन है, किन्तु पुण्य का भाव भी बन्धन है। पुण्य-पाप दोनों से रहित आत्मा के चिदानन्दस्वभाव की सम्यक् श्रद्धा-ज्ञान-एकाग्रता, सो मोक्षमार्ग है। जिसे पुण्य की या पुण्य के फल की रुचि है, उसे आत्मा के अबन्धस्वभाव की रुचि नहीं है अर्थात् धर्म की रुचि नहीं है। देखो, पूर्व पुण्य के कारण किसी के पास पैसे के ढेर हों, तो वहाँ अज्ञानी को उसकी महिमा आ जाती है कि—''भैया! उसे तो भगवान ने दिया, इसलिये खर्च करेगा ही।'' किन्तु भाई! क्या भगवान किसी

को रुपया-पैसा देते हैं ? यदि भगवान पैसा देते हों तो दूसरों को दिया और तुझे क्यों नहीं दिया ? एक को दें और दूसरे को न दें, तब तो भगवान भी पक्षपाती सिद्ध हुए। किन्तु ऐसा नहीं होता। भाई ! बाह्य संयोग तो पूर्व पुण्य-पापानुसार मिलते हैं। पैसादि का मिलना पूर्वपुण्य का फल है, किन्तु उसमें कहीं भी चैतन्य का आनन्द नहीं है; इसलिये उस पुण्य की और उसके फल की मिठास छोड़ दे। संयोग की या पुण्य की महिमा नहीं है किन्तु चैतन्यस्वरूप की ही महिमा है। अपने चैतन्यस्वरूप की महिमा को जानकर उसके सन्मुख हो तो तुझे अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव होगा। किन्हीं संयोगों में या संयोगों की ओर के भाव में आत्मा का आनन्द है ही नहीं। अज्ञानी को अनादिकाल से पुण्य की और पुण्य के फल की महिमा भासित होती है; किन्तु चैतन्यस्वभाव की महिमा उसे भासित नहीं होती।

भाई ! तेरा चैतन्यस्वरूप आत्मा ही ध्रुव है; वही मुझे शरणभूत है; इसके सिवा बाह्य सामग्री का संयोग तो क्षणिक नाशवन्त है, वह तुझे शरणभूत नहीं है, वह तो क्षण में छूट जायेगा। अज्ञानी अपने चैतन्यस्वरूप को तो लक्ष में लेता नहीं है और व्यर्थ ही पर की ममता करके दु:खी होता है। जैसे—एक बरगद के पेड़ पर बहुत दिनों से एक बन्दर रहता था; इसलिये उसे ऐसा लगने लगा कि यह पेड़ मेरा है। जब पतझड़ का मौसम आया और बरगद के पत्ते खिरने लगे तब बन्दर रोने लगा, दु:खी होने लगा कि—अरे ! मेरे पत्ते खिरे जा रहे हैं। उसी प्रकार यह बाह्य संयोग तो बरगद के पत्तों जैसा है। संयोग से भिन्न अपने एकत्व चैतन्यस्वरूप को भूलकर अज्ञानी जीव अनादि से संयोग में ही अपनापन मान रहा है; इसलिये जहाँ संयोग में किंचित् भी प्रतिकूलता हुई, वहाँ अज्ञानी को ऐसा लगता है कि हाय रे ! मेरी वस्तु चली जा रही है ! लेकिन ज्ञानी कहते हैं कि भाई ! यह वस्तु तेरी नहीं है, तेरी वस्तु तो तेरे निकट है; तू तो परमानन्दमय चैतन्यस्वरूप आत्मा है; अपने ऐसे स्वरूप को पहिचान। सारे जगत में यदि सबसे उत्तम तत्त्व हो तो वह परमानन्दस्वरूप तेरा आत्मा है। जिस प्रकार चने की मिठास चने से ही प्रगट होती है; रेती या कड़ाही में से नहीं आती; उसी पकार चैतन्य का आनन्द चैतन्य में से ही आता है, किसी बाह्य संयोग में से या राग में से नहीं आता; चैतन्यशक्ति में आनन्द के निधान भरे हैं, उसी में से व्यक्त होते हैं।

जिस प्रकार चने में मिठास की शक्ति भरी है, किन्तु कचास के कारण वह कसैला लगता है और बोने से उगता है; किन्तु उसे सेकने पर कचास दूर होकर मिठास आती है और पुन: वह उगता भी नहीं है। उसी प्रकार चैतन्यमूर्ति आत्मा के स्वभाव में ज्ञान और आनन्द भरे हैं; किन्तु अज्ञानरूपी

कचास के कारण उसे अपने स्वाभाविक आनन्द का स्वाद नहीं आता किन्तु पुण्य-पाप की आकुलता का स्वाद आता है और नये-नये अवतार धारण करके चार गतियों में परिभ्रमण करता है। इतने पर भी उसके स्वभावशक्ति का नाश नहीं हुआ है। अपनी स्वभावशक्ति का भान करके सम्यक् श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र द्वारा आत्मा को सेकने से उसके अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद आता है और फिर उसके चार गतियों में अवतार नहीं होते।

जीव ने अनादि से बाहर देखा है और पर का विश्वास किया है; किन्तु अन्तर में देखकर कभी अपने स्वभावसामर्थ्य का विश्वास नहीं किया। चैतन्य में ही अनाकुल शांतरस का स्वाद है, उसे चूककर अज्ञानी ऐसा मानता है कि बाह्य सामग्री में—खान-पान, स्त्री-कुटुम्ब, इज्जत, शरीर, लक्ष्मी आदि में ही मेरा सुख है। और कोई-कोई इससे कुछ आगे बढ़कर ऐसा मानते हैं कि पुण्य के शुभ राग में सुख है। किन्तु भाई रे! तेरा सुख तेरे स्वभाव में होगा या बाहर? बाह्य में या राग में सुख मानकर तूने अपने चैतन्य की बड़ी अवगणना की; आत्मा के शुद्धस्वभाव का अनादर किया और राग का आदर किया। इस प्रकार की विपरीत मान्यता से जब तक बाह्य में आनन्द मानता है, तबतक जीव को अपने भीतर भरे हुए अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव नहीं होता, अर्थात् सम्यग्दर्शन नहीं होता—आत्मसाक्षात्कार नहीं होता। उसे यहाँ समझाते हैं कि हे भाई! तेरा आत्मा स्वयं आनंदस्वरूप है; उसका तू विश्वास कर, और संयोग में या राग में आनन्द की कल्पना छोड़। ऐसा दुर्लभ मनुष्य अवतार और सत्समागम मिला; तो अब अपने आत्मा को पहिचानकर ऐसा अपूर्व भाव प्रगट कर कि जिससे अनंतकाल के भव-भ्रमण का नाश हो जाये। भाई! इस शरीर का संयोग तो क्षणभर में छूट जायेगा; यह तेरी वस्तु नहीं है, और न तेरे रखने से रहेगा; इसलिये देह से भिन्न अपने चैतन्यतत्त्व की पहिचान कर।

यहाँ मांगलिक में शुद्ध चिद्रूप आत्मा को ही प्रणमन करके उसकी महिमा गाई है। अनादिकाल से पर का और राग का बहुमान करके उस ओर परिणमन करता आ रहा है; उसके बदले चिदानन्दस्वभाव का बहुमान करके उसके सन्मुख परिणमन करना, वह अपूर्व मंगल है। जिसे अनादि के भवभ्रमण की थकान लगी हो और आत्मा की लगन लगी हो—ऐसे मुमुक्षु जीव को आत्मा का शुद्ध चैतन्यस्वरूप समझाने के लिये यहाँ उसका वर्णन करते हैं। हे भाई! तेरे आत्मा का रूप तो आनन्द और ज्ञान है; इसके सिवा शरीर का रूप तेरा नहीं है और पुण्य-पाप भी तेरा सच्चा रूप नहीं है। अपने चैतन्यतत्त्व की समझ के बिना पूर्वकाल में अज्ञानभाव से अन्य बाह्य

साधन अनन्तबार किये और उनमें धर्म माना; किन्तु उससे तेरा किंचित् भी कल्याण नहीं हुआ।

यम नियम संयम आप कियो,
पुनि त्याग-विराग अथाग लह्यो;
वनवास कियो मुख मौन रह्यो
दृढ़ आसन पद्म लगाय लियो।

❀ ❀ ❀

वह साधन बार अनंत कियो
तदपि कछु हाथ हजु न पर्यो;
अब क्यों न विचारत है मनमें
कछु और रहा उन साधन सें।

भाई! सत्समागम से अंतर के चैतन्यतत्त्व को लक्ष में लिये बिना तेरे सभी साधन व्यर्थ हैं। वास्तविक साधन अंतर में क्या है, उसे लक्ष में लिये बिना अपनी स्वच्छन्द कल्पना से अन्य उपाय तो अनादि से किये हैं, किन्तु उनसे भवभ्रमण का अन्त नहीं आया है। इसलिये हे जीव! अपनी अनादिकालीन भ्रमणा छोड़ और चैतन्यतत्त्व की रुचि करके सत्समागम से उसे समझने की दरकार कर। जैसे-जिसे रुपया कमाने की दरकार है, उसे उसकी बात सुनने से भी कैसा उत्साह आता है? उसी प्रकार जिसे चैतन्यतत्त्व की दरकार हो, उसे सत्समागम से श्रवण-मनन करके वह समझने के लिये उत्साह और रुचि होना चाहिये। घर में कोई नई वस्तु आये तो कैसी रुचिपूर्वक देखता है। तब फिर जो अनादिकाल में कभी प्राप्त नहीं हुई, ऐसी अपूर्व चैतन्यवस्तु को प्राप्त करने के लिये उसकी रुचि-उत्साह और उद्यम होना चाहिये। अनादिकाल से बाहर का जानने में रुकता है, किन्तु अंतर की जिस चैतन्यवस्तु को कभी नहीं जाना, उसे जानने का प्रयत्न नहीं करता। जिसे आत्मा का अपूर्व कल्याण करना हो, उसे ज्ञान को अंतरमुख करके आत्मा के स्वभाव को जानना चाहिये। इसके सिवा अन्य सब उपाय निष्फल हैं। अज्ञानी को बाह्य वस्तुओं की रुचि आती है किन्तु अंतर में स्वयं महान चिदानन्द भगवान विराजमान है, उसकी महिमा या पहिचान नहीं करता। आत्मा के चैतन्यस्वभाव में परम शांति अतीन्द्रिय आनन्द भरा है, किन्तु अज्ञानी को उसकी प्रतीति न होने से उसका स्वाद नहीं आता। कड़ाही में मावा लगा हो, उसका स्वाद अज्ञानी को भासित होता है, किन्तु वह तो जड़ है, उसका स्वाद कहीं आत्मा में नहीं आता। विषयों से पार आत्मा के आनन्द का स्वाद

कैसा होगा, वह अज्ञानी के ख्याल में भी नहीं आता। अंतर के चैतन्यस्वभाव में आनन्द की मिठास भरी है; जैसा सिद्ध भगवन्तों का आनन्द है, वैसा ही आनन्द इस आत्मा के स्वभाव में भी भरा है, उसकी पहिचान करके उसमें एकाग्रता करे तो उसका अनुभव हो। चैतन्य के अतीन्द्रिय आनन्द का अलौकिक स्वाद अनुभव में आया, वहाँ ज्ञानी को बाहर के सभी विषय तुच्छ भासित होते हैं—उनमें कहीं स्वप्न में भी सुख भासित नहीं होता; उनकी अंतरदशा बदल जाती है।

ज्ञानी जानता है कि अहो! जगत में कोई ऊँचे से ऊँचा तत्त्व हो तो मेरा चैतन्यतत्त्व ही है; इसलिये जगत में उत्तम और आनन्दरूप ऐसे चैतन्यतत्त्व को ही मैं नमस्कार करता हूँ। चैतन्य के बहुमान के पास किसी राग का या संयोग का बहुमान धर्मी को नहीं आता। जगत के मूढ़ जीव तो पैसादि जड़ की प्रीति में आत्मा की चैतन्य-लक्ष्मी की महिमा को भूल जाते हैं। ऐसे जीवों को यहाँ समझाते हैं कि अरे भाई! जगत में उच्च से उच्च तो तुम्हारा चैतन्यतत्त्व है। आनन्द हो तो तुम्हारे चैतन्यतत्त्व में ही है; इसके सिवा बाह्य में लक्ष्मी आदि के ढेर हों, वह तो धूल है, उसमें कहीं तुम्हारा आनन्द नहीं है। अपने अंतरस्वभाव के अवलम्बन बिना बाह्य से कुछ भी नहीं मिल सकता। भगवान भी इस आत्मा को कुछ नहीं दे सकते। जगत में अनंत तीर्थंकर भगवन्त सर्वज्ञ परमात्मा हुए हैं; वर्तमान में महाविदेहक्षेत्र में सीमंधरादि तीर्थंकर विराजमान हैं, किन्तु वे दूसरे जीवों का कुछ कर देते हों, ऐसा नहीं होता। सर्वज्ञ परमात्मा भी ऐसा आदेश देते हैं कि हे जीवों! जगत में तुम्हारे लिये तुम्हारा चैतन्यतत्त्व ही उत्तम है, उसे समझो। हमारे आत्मा में जितनी शक्ति है, उतनी ही तुम्हारे आत्मा में भी भरी है। अनन्त अवतारों में जीव ने अपने उत्तम चैतन्यतत्त्व की समझ कभी नहीं की है। सर्वज्ञ होने की शक्ति अपने आत्मा में है; उसे पहिचाने तो मुक्ति मार्ग खुले।

यहाँ मांगलिक में शुद्ध चिद्रूप को नमस्कार किया है; उसमें परमार्थतः अपने ज्ञानानन्द-स्वरूप आत्मा को नमस्कार करके उसका आदर किया है; और निमित्तरूप से—जो शुद्ध चिद्रूप आनन्दमय स्वरूप को प्राप्त कर चुके हैं, ऐसे पंचपरमेष्ठी भगवन्तों को नमस्कार किया है। जिस प्रकार घर के आँगन में कोई महान सन्त या महापुरुष आयें तो वहाँ उनका स्वागत और बहुमान करता है; उसीप्रकार यहाँ कहते हैं कि हे भाई! जगत में बड़े से बड़ा तेरा आनन्दस्वयप आत्मा तेरे अन्तर में विराजमान है और निमित्तरूप से पंचपरमेष्ठी भगवन्त जगत में बड़े हैं; उन्हें अपने आँगन में पधराकर उनका आदर कर; उन्हें पहिचानकर उनका स्वागत-बहुमान कर और उनके सिवा अन्य सबका आदर छोड़ दे।

यह शरीरादिक तो क्षणभंगुर हैं और चैतन्यतत्त्व अविनाशी है; यह शरीर दु:ख का निमित्त है और चैतन्यतत्त्व आनन्द से भरपूर है; यह शरीर तो अशुचिरूप है और चैतन्यतत्त्व तो जगत में उत्तम है; शरीर तो अशरण है और चैतन्यतत्त्व शरणरूप है। ऐसे चैतन्यतत्त्व को पहिचानकर उसका सन्मान-रुचि-प्रतीति करने योग्य है। भाई! तू विचार तो कर कि तेरे आत्मा का लक्षण क्या है? यह शरीर तेरी वस्तु नहीं है, किन्तु ज्ञान और आनन्द ही तेरा लक्षण है; तेरा स्वरूप ही ज्ञान और आनन्द है; संयोग तो अनादि से नये-नये होते आ रहे हैं किन्तु भगवान आत्मा तो सदैव एकरूप चैतन्यस्वरूप है; समस्त संयोगों में रहने पर भी वह सबसे पृथक् है। "ज्ञान है सो मैं हूँ"—इस प्रकार ज्ञान लक्षण द्वारा आत्मा समस्त परद्रव्यों से पृथक् पहिचाना जाता है। यहाँ शास्त्रकार कहते हैं कि मैं ऐसे शुद्धचिद्रूप आत्मा का अर्थी हूँ, इसलिये उसकी प्राप्ति के लिये में उसका वर्णन करता हूँ। जगत में आदर-मान कैसे प्राप्त हो या पुण्यबंध कैसे हो—उसका मैं अर्थी नहीं हूँ किन्तु मैं तो आत्मा का अर्थी हूँ; आत्मार्थी को प्राप्त करने योग्य कुछ हो तो एक अपना शुद्ध आत्मा ही है।

जिसने अपने शुद्ध आत्मा का यथार्थ ज्ञान और अनुभव किया हो, वही उसकी यथार्थ देशना दे सकता है। शुद्ध आत्मा के अर्थी को वास्तविकस्वरूप बतलानेवाले देव-गुरु-शास्त्र कौन हैं, वह जानना चाहिये। जिस प्रकार अफीम की दुकान पर अफीम का मावा मिलता है किन्तु वहाँ दूध का मावा नहीं मिलता; दूध का मावा तो हलवाई की दुकान पर मिलता है; उसी प्रकार चैतन्यतत्त्व का मावा ज्ञानी के पास से मिलता है। जिसने चैतन्यतत्त्व का अनुभव किया हो, वही उसकी बात यथार्थरूप से समझा सकता है। जो पुण्य से और राग से धर्म मनाते हों, निमित्त के आश्रय से धर्म मनाते हों, वे अफीम के दुकानदार जैसे हैं; उनके यहाँ शुद्ध आत्मा का यथार्थ उपदेश नहीं मिल सकता।

अहो! चैतन्य वस्तु क्या है—उसकी पहिचान करना, वह अपूर्व है। जिसने चैतन्य की समझ करके मोह का नाश किया है, उसका पुन: अवतार नहीं होता। जिस प्रकार पहाड़ पर बिजली गिरे और उसके दो टुकड़े हो जायें तो फिर वे जोड़ने से नहीं जुड़ सकते; उसी प्रकार चैतन्य के अपूर्व भान द्वारा जिसके अनन्त संसार का नाश हो गया, उसे पुन: संसार में अवतार नहीं लेना पड़ता। जिस प्रकार चने के सिक जाने पर उसकी कचास जल जाती है और वह बोने से उगता नहीं है; उसी प्रकार जिसने चैतन्यतत्त्व की श्रद्धा करके उसमें एकाग्रता द्वारा मोह का नाश किया, उसे पुन: संसार में जन्म नहीं लेना पड़ता। लेकिन पहले तो अन्तर में यह बात जमना चाहिये कि जगत

में सर्वश्रेष्ठ तत्त्व मेरा आत्मा है। अपने चैतन्य की प्रतीति करने के लिये मुझे किसी दूसरे का अवलम्बन नहीं है। अनादिकाल से जिसे प्राप्त नहीं कर पाया—ऐसे चैतन्यतत्त्व की प्राप्ति के लिये पहले उसकी पहिचान करो—ऐसा यहाँ उपदेश है। देखो, यह उपदेश स्वर्ग की, पैसे की या लड़के की प्राप्ति के लिये नहीं है, किन्तु अपूर्व सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र द्वारा शुद्ध चैतन्यतत्त्व की प्राप्ति के लिये यह उपदेश है। भाई! तुझे अपने आत्मा का आनंद कैसे प्राप्त हो और तेरे जन्म-मरण का अंत कैसे हो-उसकी यह बात है; यहाँ ऐसी बात नहीं है जिससे संसार में भटकना पड़े और जन्म-मरण करना पड़े। जिसे पुण्य की और संयोग की रुचि है, उसके अंतर में यह बात नहीं जम सकती। जो जीव अनादिकालीन जन्म-मरण का नाश करके मोक्ष की प्राप्ति करना चाहता हो, ऐसे जीव के लिये यह बात है। जिसे चैतन्यस्वभाव की अपूर्व दृष्टि प्रगट हुई हो—आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव हुआ हो, ऐसे ज्ञानी को बाह्य में चाहे जैसे संयोग वर्त रहे हों किन्तु उसे अन्तर में भान है कि यह मेरी वस्तु नहीं है; मैं तो चैतन्य हूँ, मेरे चैतन्यस्वरूप में पर का प्रवेश नहीं है। जिस प्रकार गणिका बाहर से प्रेम करती है किन्तु अंतरंग से उसे किसी के प्रति सच्चा प्रेम नहीं होता; उसी प्रकार धर्मी को बाह्य में संयोग वर्तते हैं और अमुक राग-द्वेष होता है, किन्तु उसके अंतर में चैतन्यतत्त्व के सिवा किन्हीं संयोगों पर प्रीति नहीं होती। आत्मा का प्रेम धर्मी के अन्तर से कभी दूर नहीं होता। चैतन्यस्वरूप आत्मा को पहिचानकर उसकी प्रीति करे तो पर की प्रीति छूट जाये और स्वसन्मुख एकाग्रता द्वारा अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव प्रगट हो। इसलिये अन्तर में चैतन्यस्वरूप आत्मा को पहिचानकर उसकी प्रीति करो—ऐसा संतों का उपदेश है।

❀❀❀❀❀❀❀❀❀❀❀❀❀❀❀

सम्यग्दर्शन का सामर्थ्य

ज्ञानस्वरूप अभेद आत्मा की प्रतीति करना, वह अपूर्व सम्यग्दर्शन धर्म है। एक समय का सम्यग्दर्शन, अनंत जन्म-मरण का मूल छेद डालता है। अंतर के चिदानन्दस्वभाव की पहिचान करके ऐसा अपूर्व सम्यग्दर्शन जीव ने अनादिकाल से एक क्षण भी नहीं किया है। दूसरा सब कर चुका—शुभभाव से व्रत-तप-पूजा और त्याग किये, किन्तु ''मैं स्वयं चैतन्यज्योति भगवान हूँ,—ऐसे आत्मभान बिना एक भी भव कम नहीं हुआ।

❀ भव का अभाव कैसे हो ? ❀

[उमराला नगरी में भगवान की प्रतिष्ठा के समय पूज्य गुरुदेव का प्रवचन]

भव का अभाव कैसे हो, उसकी यह बात है। भाई ! ऐसा मनुष्यभव प्राप्त हुआ है; उसमें अब मेरे भव का अभाव कैसे हो—ऐसा अपूर्व भाव यदि तूने अपने आत्मा में प्रगट नहीं किया तो क्या किया ? आत्मा के भान बिना पुण्य-पाप तो अनंतकाल से करता ही आया है,—वह कोई नया नहीं है।

आज यहाँ सीमंधर भगवान की प्रतिष्ठा का दिन है। भगवान को एक समय में परिपूर्ण ज्ञान और आनन्दरूप शुद्धदशा प्रगट हुई, वह शुद्धता कहाँ से आई ? आत्मा का स्वभाव शुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूप त्रिकाल है; उस शुद्ध स्वभाव का अवलम्बन लेकर उसके ध्यान द्वारा भगवान को पूर्ण शुद्धदशा प्रगट हुई। आत्मा की शुद्धता में राग का या निमित्तों का अवलम्बन नहीं है, किन्तु अपने शुद्धस्वभाव का ही अवलम्बन है।—ऐसा जानकर जो भगवान की भाँति स्वयं अपने आत्मा के अवलम्बन से अंशतः शुद्धत्व प्रगट करे, उसने परमार्थतः भगवान को अपने आत्मा में स्थापित किया है और व्यवहार से भगवान के प्रति बहुमान का भाव आने पर बाह्य में भगवान की स्थापना करता है, उसमें शुभभाव है।

अनन्तकाल से आत्मा चार गतियों में परिभ्रमण कर रहा है—उसका क्या कारण है और वह कैसे दूर हो सकता है, उसकी यह बात है:—

शुद्धात्शुद्धमशुद्धं ध्यायन्नाप्नोत्य शुद्धमेव स्वम्।
जनयति हेम्नो हैमं लोहाल्लोहं नरः कटकम्॥१८॥

जगत में जिस प्रकार स्वर्ण में से स्वर्ण के आभूषण बनते हैं और लोहे में से लोहे के आभूषण बनते हैं; उसी प्रकार जो जीव अपने आत्मा को शुद्धस्वभावरूप से ध्याता है उसके शुद्धता प्रगट होती है, और जो जीव अशुद्ध आत्मा को ध्याता है, उसके अशुद्धता होती है।

आत्मा का स्वभाव शुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूप है; और पुण्य-पाप के विकार होते हैं, वे अशुद्धभाव हैं। उनमें से जो शुद्धात्मा का लक्ष करके उसका ध्यान करता है, उसे शुद्धता की प्राप्ति होती है; और जो जीव, पुण्य-पापादि अशुद्धता का ध्यान करता है अर्थात् उसके लाभ मानता है, उसे अशुद्धता की प्राप्ति होती है। जिस प्रकार स्वर्ण में से स्वर्ण के आभूषणों की प्राप्ति होती है और

लोहे में से लोहे के गहने मिलते हैं, उसी प्रकार शुद्धता के ध्यान से शुद्ध भावों की उत्पत्ति होती है और अशुद्धता के ध्यान से अशुद्धता की उत्पत्ति होती है। जीव अनादिकाल से ध्यान तो कर रहा है; ध्यान अर्थात् एकाग्रता। आत्मा का ज्ञानानन्दस्वभाव है, उसे भूलकर राग से और शरीर की क्रिया से मुझे लाभ होता है; अनुकूल संयोगों में मेरा सुख है—ऐसा मानकर उसमें एकाग्रता करता है, वह विपरीत ध्यान है और उसका फल संसार है। किन्तु मैं तो देह से और पुण्य-पाप के विकार से भी पार शुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूप हूँ;—इस प्रकार शुद्ध आत्मा को पहिचानकर उसकी प्रीति और एकाग्रता करना, वह शुद्ध आत्मा का ध्यान है और मुक्ति का कारण है। जिसे जिसकी प्रीति हो, उसे उसमें एकाग्रता हुए बिना नहीं रहती। जिसे शुद्ध आत्मा की प्रीति है, उसमें एकाग्रतारूपी ध्यान होता है, और जिसे राग की तथा संयोग की प्रीति है, उसे विकार में एकाग्रतारूपी ध्यान होता है। सम्यग्दर्शन भी एक प्रकार का ध्यान है। मेरा आत्मा ज्ञानानन्दस्वरूप है,—इसप्रकार शुद्ध आत्मा की प्रीति करके उसमें एकाग्र होने से ही सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रगट होता है। इसके सिवा, कोई बाह्य क्रियाएँ करते-करते धर्म होगा-ऐसा अज्ञानी लोग मानते हैं, किन्तु अन्तर में आनन्दकंद आत्मा है, उसकी प्रीति करके उसमें एकाग्रता करने के सिवा बाह्य में अन्य कोई हित का उपाय नहीं है। जिस प्रकार—दूध से जो मावा बनता है, वह कहाँ से आया? दूध के अन्दर ही मावा होने की शक्ति भरी है; उसी प्रकार आत्मा में जो पूर्ण ज्ञानानन्दस्वरूप परमात्मदशा प्रगट होती है, वह कहाँ से आती है? आत्मा में ही परमात्मा होने की शक्ति भरी है; उस परमात्मस्वभाव की महिमा करके उसका ध्यान करते-करते उसी में से परमात्मदशा प्रगट हो जाती है। दुनिया के अज्ञानी जीव अनादिकाल से अपने स्वभाव की महिमा को भूलकर संयोग तथा राग की महिमा करते हैं और विकार में लीन होकर संसार में भटकते हैं।

जिस प्रकार लैंडी पीपर के प्रत्येक दाने में चौसठ पुटी चरपराहट की परिपूर्ण शक्ति भरी है, उसी प्रकार आत्मा में परिपूर्ण ज्ञान-आनन्द की शक्ति भरी है, उसकी पहिचान और विश्वास किये बिना, बाह्य की महिमा करके जीव अनन्तकाल से भटक रहा है। चिदानन्दस्वभाव के भान बिना भव का भाव दूर नहीं होता, और न चार गतियों का परिभ्रमण मिटता है। जिसे पुण्य की रुचि है, उसे भव की रुचि है, और जिसे भव की रुचि है, उसे नर्क के अवतार का भाव भी बना ही है। भव का अभाव कैसे होता है, उसकी यह बात है। भाई! ऐसा मनुष्य अवतार मिला है; अब यदि अपने आत्मा में ऐसा अपूर्व भाव प्रगट नहीं किया कि जिससे भव का अभाव हो जाये; तो यह मनुष्यभव

पाकर तूने क्या किया ? आत्मा के भान बिना पुण्य-पाप तो अनन्तकाल से करता आया है; वह कुछ नवीन नहीं है। श्रीमद् राजचंद्रजी ने भी कहा है कि—

यम नियम संयम आप कियो,
पुनि त्याग विराग अथाग लह्यो;
वनवास कियो मुख मौन रह्यो
दृढ़ आसन पद्म लगाय दियो।

❀ ❀ ❀

वह साधन बार अनंत कियो,
तदपि कछु हाथ हजु न पर्यो;
अब कयों न विचारत है मन में
कछु और रहा उन साधन सें।

अनन्तकाल से जो उपाय कर रहा है, उसमें कोई यथार्थ उपाय बाकी रह जाता है, इसलिये जीव का कल्याण नहीं हुआ। भाई! तू विचार तो सही कि अनन्तानन्त काल से तूने धर्म का साधन मानकर जितने उपाय किये हैं, वे सब उपाय व्यर्थ गये और तेरा भवभ्रमण तो बना ही रहा। इसका पता लगा कि ऐसा कौन-सा उपाय बाकी रह गया है जिससे भवभ्रमण का नाश होता है। अनन्त जीव सर्वज्ञ परमात्मा हो गये हैं, वे किस साधन से हुए? वे बाह्य साधन से या राग के साधन से परमात्मा नहीं हुए हैं, किन्तु अंतरंग स्वभाव शक्ति को ध्या-ध्याकर उसी में से परमात्मपना प्रगट किया है। तुझमें भी वैसी परमात्मशक्ति विद्यमान है; उसकी प्रतीति के बिना पूर्वकाल में तूने जो उपाय किये हैं, वे सब निष्फल गये हैं। मेरा आत्मा ही परमात्मा होने की शक्तिवाला है—ऐसा स्वभाव शक्ति का विश्वास करके उसका अवलम्बन कर तो भव का अभाव होकर परमात्मदशा प्रकट हुए बिना नहीं रहेगी। ●●

एक समय में दो

[मोक्ष और बंध के कारणरूप भाव]

धर्मी जीव को एक ही समय में सम्यग्दर्शनादि शुद्धभाव से निर्जरा, और उसी समय में शुभराग से बंधन,—इस प्रकार एक साथ दोनों होते हैं।

— किन्तु एक ही भाव से निर्जरा और बन्ध नहीं होते। जो सम्यग्दर्शनादि शुद्धभाव हैं, वे तो निर्जरा के ही कारण हैं; उनसे बन्धन नहीं होता और शुभराग, बन्ध का ही कारण है; उससे निर्जरा नहीं होती।

—इस प्रकार मोक्ष के कारणरूप भाव को और बन्ध के कारणरूप भाव को पृथक्-पृथक् जानना चाहिये। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप वीतरागभाव तो मोक्ष के ही कारण हैं, और मिथ्यात्व तथा रागादिभाव बन्ध के ही कारण हैं।

जो भाव, मोक्ष के कारण हों, वे बन्ध के कारण नहीं हो सकते और जो भाव, बन्ध के कारण हों, वे मोक्ष के कारण नहीं हो सकते।

पुरुषार्थसिद्धिउपाय में अमृतचन्द्राचार्यदेव ने कहा है कि—

येनांशेन सुदृष्टिस्तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बंधन भवति॥
येनांशेन ज्ञानं तेनांशेनास्य बन्धन नास्ति।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति॥
येनांशेन चरित्रं तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति।
येनांशेन तू रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति॥

(२१२-२१३-२१४)

इस आत्मा को जिस अंश से सम्यग्दर्शन है, उस अंश से बंधन नहीं है, तथा जिस अंश से उसे राग है, उस अंश से बंधन है;

जिस अंश से उसे ज्ञान है, उस अंश से बन्धन नहीं होता, तथा जिस अंश से राग है, उस अंश से बन्धन होता है।

और जिस अंश से उसे चारित्र है, उस अंश से बन्धन नहीं होता, तथा जिस अंश से राग है, उस अंश से बन्धन होता है।

इस प्रकार, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप भाव जो कि मोक्ष के कारण हैं, उससे कभी बंधन नहीं होता, राग से ही बंधन होता है।

रत्नत्रयमिह हेतुर्निर्वाणस्यैवभवति नान्यस्य।
आस्त्रवति यत्तु पुण्यं शुभोपयोगोऽयमपराधः ॥२२०॥

—इस जगत में रत्नत्रयरूप धर्म निर्वाण का ही हेतु होता है, अन्य का नहीं; और जो पुण्य का आस्त्रव होता है, वह तो शुभोपयोग का अपराध है।

जिस भाव से मोक्ष होता है, उस भाव से कभी बंधन नहीं होता।

जिस भाव से बंधन होता है, उस भाव से कभी मोक्ष नहीं होता।

—इसलिये मोक्ष और बंध के कारणरूप भावों को भिन्न-भिन्न स्वरूप से पहिचानना चाहिए।

[— प्रवचन से]

परम पूज्य सद्गुरुदेव श्री कानजीस्वामी के आध्यात्मिक प्रवचनों का
अपूर्व लाभ लेने के लिये निम्नोक्त पुस्तकों का—

अवश्य स्वाध्याय करें

मूल में भूल	।।।)	सम्यग्दर्शन	२)
श्री मुक्तिमार्ग	।।=)	समयसार सटीक	१०)
श्री अनुभवप्रकाश	।।)	द्वादशानुप्रेक्षा (स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा	२)
श्री पंचमेरु आदि पूजा संग्रह	।।।)		
समयसार प्रवचन भाग २	५।)	भेदविज्ञानसार	२)
समयसार प्रवचन भाग ३	४।।)	अध्यात्म पाठसंग्रह	५)
प्रवचनसार	५)	समयसार पद्यानुवाद	।)
अष्टपाहुड़	६)	निमित्तनैमित्तिक संबंध क्या है ?	=)॥)
चिद्विलास	१=)	स्तोत्रत्रयी	।।)
आत्मावलोकन	१)	आत्मधर्म-मासिक लवाजम-	३)
मोक्षमार्ग प्रकाशक की किरण	१।=)	आत्मधर्म फाइल वर्ष १-२-३	
दसलक्षणधर्म	।।।)	५-६-७-८-१०	३।।।)
जैन बालपोथी	।)		पंचमेरु

卐

हिन्दी आत्मधर्म की फाईलें

वर्ष १, २, ३, ५, ६, ७, ८, १० यह आठ फाईलें एक साथ लेनेवालों को ३०-०-० के बदले २०-०-० में दी जायेंगी।

(डाकव्यय अतिरिक्त)

मिलने का पता—
श्री जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

मुद्रक : जमनादास माणेकचंद रवाणी, अनेकान्त मुद्रणालय, वल्लभविद्यानगर
प्रकाशक : श्री जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट के लिये जमनादास माणेकचंद रवाणी